सत्यजीत राय

विनाश की ओर
धकेली जा रही दुनिया को
सबसे ज्यादा जरूरत
विचार और चिन्तन की है
क्योंकि यही
इसे बचा और
बेहतर बना सकते हैं.

सिनेमा के क्षेत्र में
विचारों की उत्तरदायी पहल

पटकथा

मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम का प्रतिष्ठा प्रकाशन
ई-1/90 अरेरा कॉलोनी भोपाल 16
फोन : 566908, 563810

मुद्रक : नईदुनिया पब्लिकेशन्स प्रा.लि. भोपाल

सत्यजीत राय
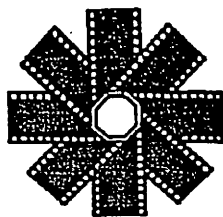
मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम मर्यादित
(राज्य शासन का उपक्रम)
ई- 1/90 अरेरा कालोनी भोपाल - 16
फोन - 566908, 563810 ग्राम : फिल्मडेव

मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम का प्रकाशन

नियामक
आनंद बर्नार्ड, ओ. पी. दुबे
संपादक
श्रीराम तिवारी
सहायक संपादक
सुनील मिश्र

सहयोग राशि : दो रुपए
म.प्र. फिल्म विकास निगम
ई- १/९० अरेरा कॉलोनी, भोपाल-१६
फोन :-५६६९०८, ५६३८१० तार : फिल्मडेव

शैली का विधान

सत्यजीत राय की फिल्मों,
उनके प्रभाव और उनकी
सहज प्रतिभा पर श्याम बेनेगल के विचार

यह कब हुआ? सन् १९५५-५६ में। यह तब हुआ जब मैं कलकत्ता गया था जहाँ मैंने **सत्यजीत राय** की एक फिल्म पहली बार देखी। उस समय भी मुझे सिनेमा से बेहद प्रेम था और मैंने एक फिल्म-निर्माता बनने का मौन संकल्प कर रखा था। हैदराबाद में अपने पढ़ने के वर्षों में मैंने जो दो प्रकार की अमरीकी फिल्में और भारतीय फिल्में देखी थीं, निश्चय ही मैं वैसी फिल्में नहीं बनाना चाहता था जैसी कि यहाँ बनाई जा रही थीं। मैं उन फिल्मों से अलग ढंग की फिल्में बनाना चाहता था। मैं निश्चय ही यह नहीं जानता था कि मैं किस दिशा को अपनाना चाहता हूँ।

कलकत्ता में मेरे चाचा ने मुझसे कहा कि शहर छोड़ने के पहले मैं एक फिल्म अवश्य ही देखता जाऊँ। उन्होंने बताया कि उस फिल्म का नाम **पाथेर पांचाली** है और उसे विज्ञापन व्यवसाय के एक कॉमर्शियल आर्टिस्ट ने बनाया है। उन्होंने यह भी कहा कि वह फिल्म अद्भुत है।

इसलिए मैंने वह फिल्म देखी। मुझ पर उस फिल्म का प्रभाव ऐसा हुआ जैसे कि मेरे मन में विस्फोट हुआ हो। अकस्मात् मेरे लिए हर चीज स्पष्ट हो गयी- यहाँ तक कि फिल्में बनाने की मेरी अपनी इच्छा भी। अकस्मात् ऐसा लगा कि मेरे सामने एक बिल्कुल नया मार्ग है, सिनेमा का एक बिल्कुल नया विश्व है, जिसके बारे में किसी ने भी नहीं सोचा था, क्योंकि अनुभव के उस क्षेत्र में किसी ने भी फ़िल्में नहीं बनायी थीं।

सत्यजीत राय की फिल्म और भारत में उनके बुजुर्ग समकालीन फिल्म-निर्माताओं की फिल्मों के बीच जो खाई है वह पाटी नहीं जा सकती। मैं इस बात से इंकार नहीं करता कि उनमें से कुछ फिल्में रुचिकर थीं, बल्कि मैं जो कह रहा हूँ वह यह है कि उन सभी ने उन हदबंदियों को स्वीकार किया था, जिनके भीतर उस समय फिल्में बनाई जाती थीं। उनमें पारिपाटिक अभिवृत्तियों का एक समुच्चय होता था। उनमें कहानी एक निश्चित ढंग से कही जाती थी। उनमें जो प्रमुख पात्र होता था उसमें कतिपय सद्‌गुणों का होना आवश्यक था और उसके विरोधी पात्र में कतिपय दुर्गुणों का होना आवश्यक था।

यही **सत्यजीत राय** की फिल्मों में अंतर दिखाई देता है। वे परिपाटी से हटकर चले और उन्होंने स्टीरियो टाइप्स को अर्थात् अच्छे आदमी और बुरे आदमी, आत्म बलिदानी माता और भटकी हुई औरत के बीच के विभाजन को त्याग दिया। यह बात नहीं है कि इन चरित्रों के इर्दगिर्द चलने वाली कहानियों को लेकर बनायी गयी फिल्में बिल्कुल बुरी थीं। हो सकता है कि वे फिल्में बहुत अच्छी तरह से बनायी गयी हों और आपको एक ऐसा अनुभव प्रदान करती हों जिसकी इच्छा करना आसान हो। बात केवल इतनी है कि वे फिल्में एक कतिपय प्रकार के विश्व में कैद थीं, जो कि आपके अनुभव और आपकी अभिव्यक्ति का विश्व नहीं था।

पाथेर पांचाली में हमें प्रभावित करने वाली सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उसके चरित्र मानवप्राणी हैं, जो कि ऐसी परिस्थितियों में हैं, जिनमें उनसे नायक या खलनायक बनने की माँग नहीं की जाती। वे या तो परिस्थिति के शिकार हैं या फिर वे परिस्थिति से छुटकारा पा लेते हैं। किंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन चरित्रों में सारभूत मानवता है। नाटकीय भाषा में यह कहा जा सकता है कि चरित्र भारित नहीं हैं। वे न तो अच्छाई से भरे अच्छे लोग हैं और न बुराई से भरे बुरे लोग हैं। अर्थात् ऐसे प्रतिमान नहीं हैं जिनकी कसौटी पर दर्शकगण चरित्रों को परखा करते थे।

पाथेर पांचाली में आपका तादात्म्य उसके परे चला जाता है। आपका तादात्म्य वास्तविक विश्व के साथ होता है, जैसे लोगों के साथ वास्तविक जीवन में हुआ होता। यह फिल्म देखते समय (जैसा कि मैंने कहा) इसी बात ने मेरे मन में विस्फोट उत्पन्न कर दिया। **सत्यजीत राय** मात्र यथार्थवाद पर ही नहीं रुक गये। फिल्म इतनी गीतात्मक है कि उसका यथार्थ अपनी सीमाओं को लाँघकर काव्य बन जाता है। इस फिल्म में दो अवस्थाएँ इसलिए आती हैं क्योंकि आपका सबका उस आदमी की संवेदनग्राहिता से पड़ता है, जिसने यह फिल्म बनायी है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण थी, क्योंकि मेरा वास्ता इस ढंग की संवेदनग्राहिता से नहीं पड़ा था, जो कि स्वयं को किसी व्यक्ति की कृति में अभिव्यंजित करती हो। वे ध्वनि का उपयोग महज इस तरह नहीं करते थे जैसे कि विजुअल के साथ कोई चीज नत्थी कर दी गई हो, बल्कि वे एक ऐसे धागे की तरह उसका उपयोग करते थे जो कि किसी टैपेस्ट्री के ताने-बाने में बुना जाने वाला हो। उनकी दृष्टि में ध्वनि और चाक्षुष एक दूसरे के अनुपूरक हैं। संगीत का उपयोग और आँधी तथा बारिश वाले ध्वनि-प्रभावों का उपयोग वे इस ढंग से करते थे, जिस ढंग से उनका उपयोग पहले कभी भी नहीं किया गया था।
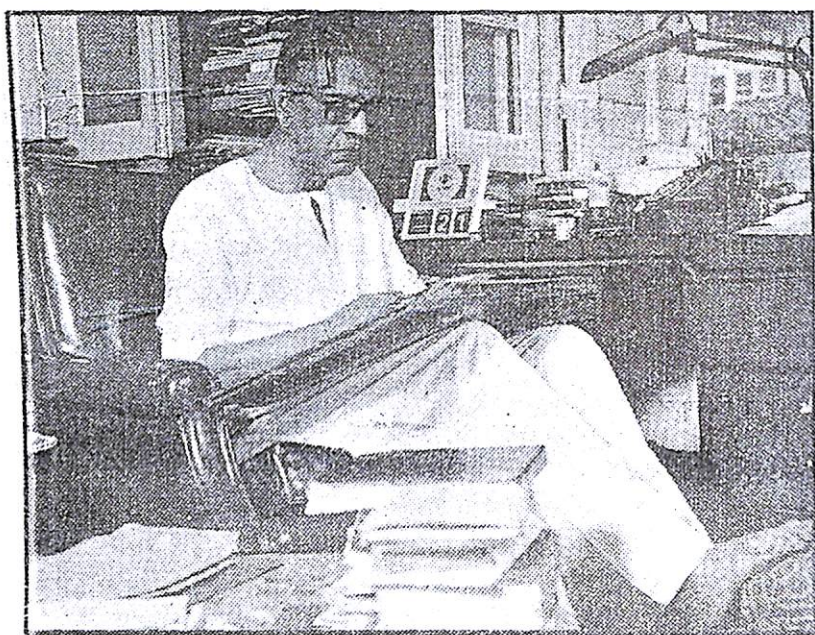
भाषा मेरे लिए कोई समस्या नहीं थी। यह एक ऐसा अन्य क्षेत्र था, जहाँ सत्यजीत राय के कौशल का परिचय प्राप्त होता है। पहली बार ऐसा होता है कि आपके लिए भाषा का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। भले ही भाषा के ज्ञान ने इस फिल्म के आपके अनुभव को गहरा कर दिया होता। कलकत्ता के उस दौरे में मैंने फिल्म पाथेर पांचाली चार दिनों में छह बार देखी। उसने मुझे इतना प्रभावित किया कि कुछ न पूछिए।

उसके बाद मैं सत्यजीत राय की हर कृति का परम भक्त बन गया। मै उनकी हर फिल्म देखा करता था- सिर्फ एक बार नहीं, बल्कि अनेक बार। उनकी फिल्मों को दो बार या अधिक बार देखकर आप बहुत-कुछ सीख सकते हैं। वे ऐसी हैं कि हम उन्हें तीसरी बार, चौथी बार और पाँचवीं बार देखने के लिए विवश हो जाते हैं, फिर भी हमें जानने के लिए कुछ न कुछ मिलता ही है।

मैं हैदराबाद लौट गया और कॉलेज जाने लगा। हमने एक फिल्म सोसायटी आरंभ की, जो कि हैदराबाद में पहली थी। हम यहाँ **सत्यजीत राय** की फिल्म **पाथेर पांचाली** लाये और उसके बाद **पारस पाथर, जलसाघर, अपराजितो** और **अपूर संसार** फिल्में आयीं। जब फिल्म **अपूर संसार** बनी तब मैं बंबई में था। वहाँ भी दो फिल्म सोसायटियाँ थीं, जहाँ हम **सत्यजीत राय** की हर अगली फिल्म की प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक कर सकते थे।

सन् १९६५ तक मैंने फिल्मों का निर्माण आरम्भ कर दिया था। वे विज्ञापन फिल्में

थीं और कभी-कभी मैं डाक्यूमेन्टरी फिल्में बनाया करता था। अब मैं **सत्यजीत राय** से मिलना चाहता था। एक बार जब मैं कलकत्ता गया तो उनके एक चचेरे भाई ने उनसे मेरा परिचय करवाया। मैं उनसे उन सेटों पर मिला जहाँ वे अपनी फिल्म **नायक** के अंतिम प्रसंग की शूटिंग कर रहे थे। उसके बाद उन्होंने मुझे अपने घर बुलाया, जहाँ हमने घंटों बातचीत की।

मैंने उन्हें बहुत व्यावहारिक, बहुत समझदार और बहुत स्पष्टवादी पाया। उनकी बात सीधी-सादी हुआ करती थी और आसानी से समझी जा सकती थी। किन्तु उनमें हमेशा एक कतिपय प्रकार का निग्रह हुआ करता था। उन्होंने नासमझों को बर्दाश्त किया होगा, किन्तु मैं बाजी लगाने को तैयार हूँ कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें बर्दाश्त नहीं किया होगा।

चूँकि **सत्यजीत राय** बंगला भाषा में अपनी फिल्में बनाया करते थे, इसलिए पश्चिम बंगाल में उनकी कृतियों को जाना गया। अन्यत्र, लोग उनके नाम से परिचित थे, न कि उनकी फिल्मों से। यह बात दुर्भाग्यपूर्ण थी और इसकी वजह से एक खाई पैदा हो गई थी, जिसे कि हाल ही में दूरदर्शन में उनकी फिल्मों को समय-समय पर दिखाकर पाटने की कोशिश की है।

सत्यजीत राय ने फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में जो कार्य किया है उसने मुझे विशेष रूप से इसलिए प्रभावित किया है क्योंकि किसी भी अन्य फिल्म-निर्माता की तुलना में उन्होंने ऐसी फिल्में बनाई हैं, जिन्हें कि उनके स्वयं के समय के बाहर भी देखकर आनंद प्राप्त किया जा सकता है। यदि आप आज उनकी फिल्म चारुलता को देखें तो वह उतनी ही ताजा लगेगी जितनी ताजा वह तब थी जब सातवें दशक में वह बनी थी। इस अर्थ में उनकी अनेक फिल्में उनके अपने समय की कैद में नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त, **सत्यजीत राय** ने ऐसी बहुत सी फिल्में नहीं बनायी हैं, जिन्हें कि प्रासंगिक विषयों पर बनी फिल्में कहा जा सके। यदि आप कोई ऐसी फिल्म बनाते हैं, जो कि पूर्णतः किसी ऐसे विषय पर बनायी गयी हो जिसमें उस समय लोगों को रुचि हो, तो वह कल के बासे अखबार की तरह शीघ्र ही बासी हो जाएगी। **सत्यजीत राय** की **प्रतिध्वनि** तथा **सीमाबद्ध** जैसी फिल्में मुझे कालबद्ध जान पड़ीं, किन्तु उनकी अधिकांश फिल्मों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती, जो कि किसी विशिष्ट समय के सरोकार या फैशन की कैद में नहीं रही। **पाथेर पांचाली, अपराजितो, अपूर संसार, चारुलता, जलसाघर** में से कोई भी फिल्म विशिष्ट काल की सीमा में आबद्ध नहीं थी।

दो विशेषताएँ ऐसी थीं, जिनमें वे अधिकांश फिल्म निर्माताओं के हिस्सेदार नहीं थे। उनमें से एक विशेषता थी उनकी मानवता। अपने कैरियर के प्रथम पच्चीस वर्षों में वे अच्छाई-बुराई के विवेचक, नीति-अनीति के विवेचक कभी नहीं रहे और यदि उन्हें आलोचना करनी होती थी तो वे व्यंग्य का सहारा लिया करते थे। मेरी दृष्टि में यह उनका एक बहुत महत्वपूर्ण गुण था और उनकी फिल्मों के शाश्वत स्वरूप का अद्वितीय कारण था।

सत्यजीत राय की दूसरी विशेषता यह थी कि वे किसी उद्देश्य या विचारधारा के ध्वजवाहक नहीं थे। यद्यपि बहुधा वे कहा करते थे कि वे समाजवाद के पक्ष में थे और परिवर्तन से सरोकार रखने वाला कोई भी कलाकार यथापूर्व स्थिति के साथ मेल नहीं कर सकता, तथापि वे अपनी प्रतिभा का उपयोग परिवर्तन के पक्ष में नारे रचने के लिए नहीं करने वाले थे। इसके विपरीत स्थिति बंगाली फिल्म निर्देशक **ऋत्विक घटक** की थी। **ऋत्विक घटक** की फिल्में देश के विभाजन से सरोकार रखती हैं, क्योंकि वे स्वयं उस घटना से प्रभावित थे, उनका परिवार बिखर गया था तथा उन्हें और उनके आसपास के लोगों को अपने जीवन के दारूणतम संकट को सहना पड़ा था।

सत्यजीत राय ने अपनी फिल्म **अशनि संकेत** में बंगाल के अकाल का चित्रण किया था और कुछ दोषों के बावजूद यह एक हृदयस्पर्शी फिल्म थी। मोहक अभिनेत्री बबिता ने गाँव के भूख से तड़पते हुए पुरोहित की पत्नी की भूमिका की थी, किन्तु इस अभिनेत्री की भौहें बाकायदा प्लक की हुई थीं। खामियों के बावजूद इस फिल्म में हृदय को निचोड़ देने वाले क्षण थे। उसमें एक ऐसे संकट के शिकार हुए हताश लोगों की कहानी थी, जिस संकट को अपने जीवन में लाने में उनका कोई हाथ नहीं था।

मेरी दृष्टि में **सत्यजीत राय** बंगाल के पुनर्जागरण के अंतिम प्रतिनिधि थे। उनकी पृष्ठभूमि, उनके प्रशिक्षण, उनकी लगभग संकलनवादी रुचियों के कारण वे ऐसा विवरण प्रस्तुत कर सकते थे, किन्तु यदि उन्होंने अपनी असंदिग्ध प्रतिभा के अनेक क्षेत्रों में से केवल एक क्षेत्र में कार्य करना चाहा होता तो भी उन्होंने उत्कृष्ट कार्य किया होता। मुझे हमेशा यह बात विलक्षण प्रतीत होती थी कि एक व्यक्ति में एक लेखक, कलाकार, ग्राफिक डिजाइनर, टाइपोग्राफर, संगीतकार और फिल्म निर्माता की प्रतिभा हो सकती है। ये एक सच्चे पुनर्जागरणकालीन व्यक्ति के गुण हैं।

यह बात सच हो सकती है कि बंगाल का पुनर्जागरण लोगों के एक बहुत अनान्य और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग तक सीमित था, फिर भी उसका महत्व नहीं है। उससे कई चीजें आयीं-साहित्य, विज्ञान, कविता, संगीत। आज बंगाल अच्छा या बुरा जैसा भी है वह उस महान पुनर्जागरण की उपज है। **सत्यजीत राय** के साथ वह आंदोलन समाप्त हो जाता है।

मेरे लिए उनके बारे में केवल एक बंगाली के रूप में कहना कठिन है। वे उतने ही भारतीय थे, जैसा कि कोई अन्य व्यक्ति है, बल्कि इससे भी कहीं अधिक वे एक विश्व नागरिक थे। उनकी फिल्मों के विषयों में और उनकी अपील में ऐसी सार्वलौकिकता थी कि विश्व में जहाँ कहीं उनकी फिल्में प्रदर्शित की जाती थीं वे मानवता की भावना जागृत करती थीं।

भारतीय सिनेमा के विकास में **सत्यजीत राय** के अधिक मूर्त योगदानों में से एक योगदान है। भारतीय फिल्म तथा टेलीविजन संस्थान। इसी तरह यदि **सत्यजीत राय** ने नेशनल फिल्म आर्काइव ऑफ इंडिया की स्थापना में तत्परता न दिखाई होती तो यह संस्था आज हमारे सामने न होती। उनके बिना भारत में अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। उनके प्रयासों के अभाव में भारतीय सिनेमा को इतनी गंभीरता से न लिया गया होता।
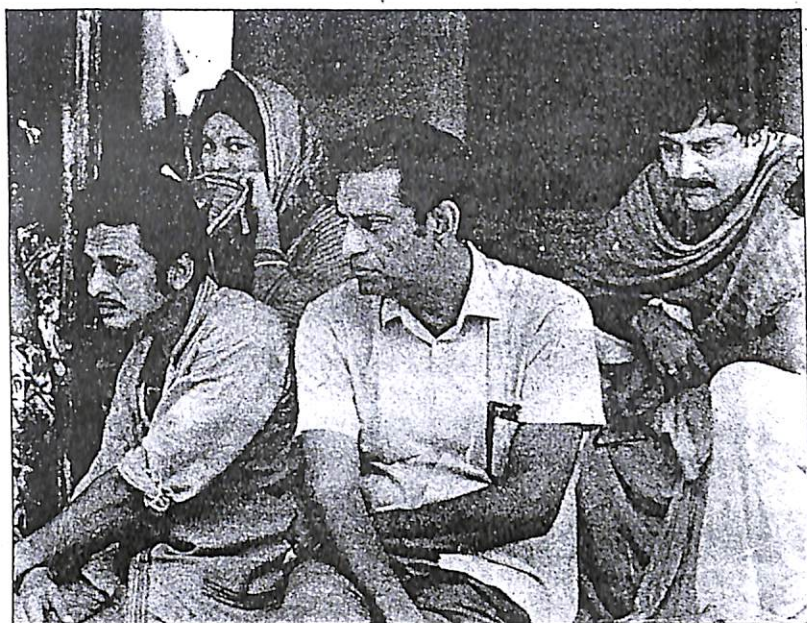
सत्यजीत राय ने अपने आसपास की चीजों को जिस हद तक प्रभावित किया वह कैसे हुआ? मैं तो यह कहूँगा कि उनके साहस ने फिल्म-निर्माताओं की भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त किया, जिन्होंने यदि पहले **सत्यजीत राय** की फिल्में न देखी होतीं तो वैसी फिल्में न बनायी होतीं जैसी कि उन्होंने बनायीं। एक लंबे समय तक **सत्यजीत राय** की फिल्मों की एक कमी थी वह भाषा जिसमें उनकी अधिकांश फिल्में बनीं। परिणामस्वरूप उनका प्राथमिक दर्शक-वर्ग बंगाल तक और अँग्रेजी में लिखी सबटाइटिलें थोड़े से भारतीय दर्शकों तक ही सीमित था। यदि आज उनकी फिल्मों को राष्ट्रीय आयाम प्राप्त हुआ है तो उसका श्रेय दूरदर्शन को जाता है।

दुर्भाग्यवश, **सत्यजीत राय** की अंतिम तीन फिल्में एक ऐसे व्यक्ति की कृतियाँ थीं, जो कि बीमारी की वजह से शारीरिक दृष्टि से बेबस था और जिसे इनडोर सेटों के बीच और उसके डॉक्टरों द्वारा अनुमत कार्य-समय की सीमा के भीतर कार्य करना पड़ता था। किन्तु फिर भी आगन्तुक एक बहुत अच्छी फिल्म थी, हालाँकि यही बात मैं शाखा-प्रशाखा और गणशत्रु के बारे में नहीं कह सकता। सत्यजीत राय की फिल्मों के बारे में जो बड़ी बात थी वह थी उनकी मितव्ययता। यह एक ऐसा गुण था, जो कि उनकी निर्मितियों के बजटों के हिसाब-किताब से लेकर (मेरा ख्याल है कि वे बजट से अधिक खर्च कभी नहीं करते थे)। कच्चे माल का उपयोग तक देखा जाता था। वे भलीभाँति जानते थे कि उन्हें क्या करना है, जिसके कारण उनकी फिल्मों में किसी भी एक्शन के लिए दो या तीन से अधिक टेक आवश्यक नहीं होते थे और उनके अभिनेता तथा तकनीशियन जानते थे कि उन्हें ठीक-ठीक क्या चाहिए।

उनमें से कुछ लोगों से तो उन्होंने बड़े-बड़े काम करवाये। आप अपने अभिनेताओं

से उस प्रकार की अनुक्रिया तभी प्राप्त कर पाते हैं जब उनसे आपकी विशेष घनिष्ठता हो और वह आपको उनके माध्यम से अपने दर्शकों को अपनी बात कहने योग्य बनाती है। ऐसा तब होता है जब आपको अपने कलाकारों या कर्मी दल को विस्तारपूर्वक समझाने की आवश्यकता नहीं होती और जब वे बिना प्रश्न पूछे यह समझ लेते हैं कि उन्हें क्या करना है।

सत्यजीत राय अपनी फिल्मों में जिन अभिनेताओं को बार-बार लिया करते थे उनके साथ उन्हें ये अनुभव बहुत अधिक हुआ करता था, उदाहरणार्थ, **सौमित्र चटर्जी** के साथ या **माधवी मुखर्जी** के साथ, विशेषतः फिल्म **चारुलता** में। जब उन्होंने **अपूर संसार** में **शर्मिला टैगोर** को लिया तब वे कम आयु की रही होंगी और अभिनय की तकनीकों से अनभिज्ञ रही होंगी, किन्तु उस फिल्म में उनका संवेदनशील अभिनय उनके उत्तरवर्ती अभिनय जीवन की सर्वोत्तम भूमिकाओं में से एक था। मुझे विशेषतः युवा दंपति की सुहागरात के बाद वाली सुबह का दृश्य याद है। यह बेहद खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया गया था। मैं उसे कभी भी नहीं भूलूँगा। चूँकि **चेपलिन** की तरह **सत्यजीत राय** अपनी रचना के हर पहलू पर पूर्ण प्रभुत्व रखा करते थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि फिल्म **शतरंज के खिलाड़ी** के बाद उन्होंने कोई भी हिन्दी फिल्म बनाने का प्रयत्न नहीं किया। किसी फिल्म की भाषा को अच्छी तरह से न जानना उनकी दृष्टि में उस फिल्म को ही न जानने जैसा था। तथापि मैं उन्हें बहुमुखी फिल्म-निर्माता नहीं कहूँगा। कभी-कभी बहुमुखी होने का अर्थ कला की एक विधा से दूसरी विधा में कूदना होता है। उनकी सुभिन्न शैली ही उन्हें अन्य फिल्म निर्माताओं से ऊपर रखती है। आप उनकी किसी फिल्म को गलती से किसी दूसरे फिल्म निर्माता की फिल्म नहीं समझ सकते, भले ही आप सिनेमा हॉल के बाहर खड़े हों और कुछ मिनट उसके साउंड ट्रेक को सुन रहे हों। मैंने उनकी फैन्टेसी फिल्मों को विशेषतः आकर्षक पाया। उनकी पहली फैन्टेसी फिल्म **गूपी गायने बाघा बायने** मेरी प्रिय फिल्म है, किन्तु **सोनार केला** और **हीरक राजार देशे** भी आह्लादकारी फिल्में हैं।

सत्यजीत राय की फिल्मों में से मेरी सर्वाधिक प्रिय फिल्म कौन सी है? मैं **चारुलता** और **पाथेर पांचाली** के बीच और उनके बाद **अपराजित्तो** और **अपूर संसार** के बीच चुनाव करना कठिन पाता हूँ। मैं उनकी तीन, तीन कन्या कहानियों में से पहली और आखरी को पसंद करता हूँ (जिनमें से एक में **अपर्णा** ने अपने कैरियर का सर्वोत्तम अभिनय किया है)। एक अन्य फिल्म, जिसे मैं बहुत अधिक पसंद करता हूँ, **अएयेर दिन रात्रि** है। फिल्म प्रतिध्वनि को अब मैं कुछ कालबद्ध पाता हूँ। मुझे उनकी डाक्यूमेन्टरी फिल्में पसंद नहीं आईं, किन्तु टैगोर पर उन्होंने जो डाक्यूमेंट्री फिल्म बनाई है वह मुझे बहुत प्रिय है।

चारुलता इतनी विशेष क्यों है? इसलिए, क्योंकि कहानी में जो स्त्री है वह **सत्यजीत राय** की भाँति अपना स्वयं का व्यक्तित्व रखती है, यहाँ तक कि वह सभी प्रकार की संकीर्णता से विहीन है। इस फिल्म का आरंभिक प्रसंग मेरी दृष्टि में इतना अच्छा है जितना पहले कभी भी देखा नहीं गया। इस प्रसंग में यह दिखाया गया है कि जब एक उकताई हुई स्त्री अपनेकमरे में पढ़ने के लिए कोई पुस्तक खोज रही होती है तो सड़क से आती हुई आवाज से उसका ध्यान विचलित हो जाता है और फिर वह

अपनी खिड़की के नीचे एक मोटे आदमी को सड़क से गुजरते हुए देखकर अपना मनोरंजन करती है। कुछ मिनटों के फुटेज में **सत्यजीत राय** ने बड़ी कुशलता और उनकी ट्रेडमार्क मितव्ययता के साथ उस स्त्री के सम्पूर्ण एकांकी अस्तित्व का वर्णन किया है।

सत्यजीत राय के व्यक्तित्व में भी मितव्ययता थी। वे एक मुखर व्यक्ति के रूप में कभी जाने नहीं गये। वे उन व्यक्तियों के चयन में बहुत जग थे, जिनके साथ वे बोलने या मित्रता करने के लिए राजी होते थे। उनसे मिलकर मेरी यह धारणा बनी कि वे अपनी व्यक्तिगत ऊर्जा को उन क्षेत्रों में उपयोग के लिए संरक्षित करना चाहते थे, जो क्षेत्र उन्हें महत्वपूर्ण जान पड़ते थे। मैं उनसे कई बार मिला हूँ और मैंने उन पर एक फिल्म भी बनाई है। इस व्यक्ति में मुझे उन अनेक पहलुओं के दर्शन हुए जो कि एक प्रतिभावान मनुष्य के व्यक्तित्वों में हो सकते हैं। एक बार हॉलीवुड के एक बहुत अच्छे कैमरामैन **नेस्तोर अल्मेन्ट्रोस** के साथ मेरी मुलाकात हुई। उन्होंने **फांकोई त्रुफो** की अनेक फिल्में शूट की थीं और उनके कार्य की विशेषता थी उसकी मितव्ययता। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने अपना कार्य कहाँ सीखा था। उन्होंने कहा कि वे **लंधेक** (एक फ्रेंच फिल्म संस्थान) के छात्र थे, किन्तु जब तक उन्होंने **चारुलता** नामक फिल्म नहीं देखी थी तब तक बहुत अधिक नहीं सीखा था। **सत्यजीत राय** का सिनेमा पर इस प्रकार का प्रभाव पड़ा था। उनकी फिल्मों के प्रदर्शन से व्यावसायिक लाभ भले ही न हुआ हो, फिर भी हमारे समय के महानतम फिल्म निर्माताओं ने उनकी प्रतिभा को सराहा है और उन्होंने उनमें से अधिकांश की अपेक्षा अधिक पुरस्कार प्राप्त किए हैं।

अनुवाद : मोरेश्वर रामपल्लीवार

बातचीत सत्यजीत राय

अपर्णा सेन

आपकी फिल्मों को लेकर तो बहुत सारे लेख लिखे गए हैं मानिक चाचा, इसलिए उन पर सवाल नहीं पूछूँगी। मैं मुख्य रूप से जानना चाहती हूँ आपके लेखन के बारे में "संदेश" को तो अब पच्चीस साल हो गए हैं। आप पच्चीस सालों से इस पत्रिका को चला रहे हैं। फिल्में और उनके अलावा बहुत काम रहने पर भी कैसे ऐसा कर पाए? क्या यह बहुत मुश्किल नहीं था?

मुश्किल मतलब! वास्तव में मैं अकेला नहीं था। **सन्देश** में किसी भी समय में सिर्फ एक ही सम्पादक नहीं था। जब शुरू हुआ था तब मैं और सुभाष (सुभाष मुखोपाध्याय) उसमें थे। वे तो नियमित रूप से ऑफिस चलाते थे। **सन्देश** का तब एक ही ऑफिस था। वहाँ और भी लोग नौकरी करते थे। जिससे बहुत खर्च भी होता था... मतलब बहुत अव्यवहारिक रूप से यह शुरू हुआ था। इतना खर्च करना शायद उचित नहीं था। इसके बाद जब काम चलाने वाले हाथ बदले, मतलब मैं तो था ही, मगर सुभाष ने छोड़ दिया। उनकी जगह आए नलिनी दास तथा लीला मजूमदार और वे अभी भी हैं। होता क्या है कि मैं जब भी फिल्म में डूब जाता हूँ तो उसी दौरान देखा जाता है, कि **संदेश** में मेरा योगदान कम हो गया है। उसके बाद जब शूटिंग खत्म हो जाती है और सम्पादन का समय आ जाता है तो मैं फिर काम के साथ-साथ **सन्देश** के लिए लिखने लगता हूँ। जब कोई फिल्म नहीं होती है तब तो बहुत मन लगाकर **सन्देश** के लिए काम करता हूँ। फिर भी काम का बोझ आजकल बहुत ज्यादा है- मतलब साज-सज्जा से शुरू करके सब कुछ बहुत ज्यादा करता हूँ मैं...
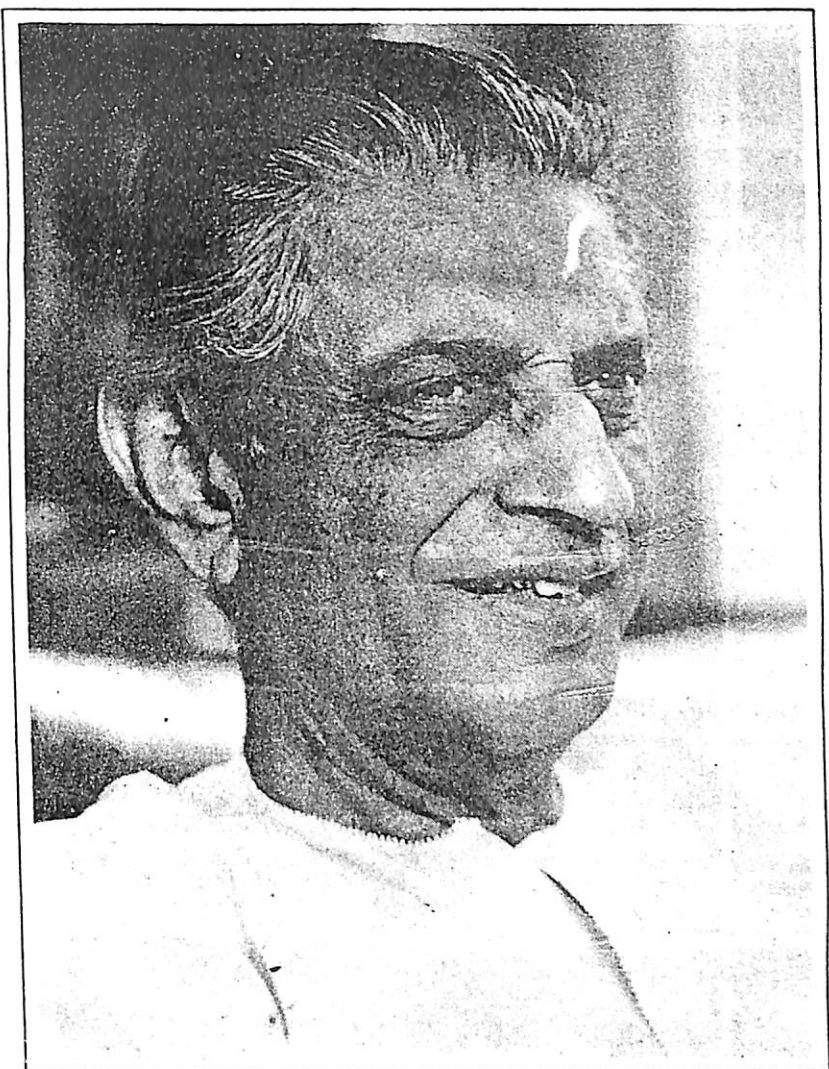
और हर लेख के बनने में अंतिम निर्णय मैं ही लेता हूँ। फिल्म जब चलती है तब भी- जैसे **घरे बाइके** जब बन रही थी, समय मिलते ही सन्देश का काम भी किया था। **सन्देश** का काम मतलब साज-सज्जा, रेखाचित्र बनाना, चुनिन्दा लेख इकट्ठे करना आदि। अपने लिखने के बारे में यहाँ नहीं बोल रहा हूँ। वैसे कहानी का प्लॉट एक बार दिमाग में आ जाए तो फिल्म चले या न चले, उस कहानी को लिख डालने का समय मुझे निकालना ही पड़ा है क्योंकि एक बार दिमाग में आ जाने के बाद मेरे लिए उसे कागज में लिखना जरूरी हो जाता है।

सन्देश तो बहुत दिनों से बंद था। आखिरी सम्पादक शायद सुविनय राय थे- है न?

मैं बताता हूँ। पहले वर्ष १९१३ में शुरू हुआ **सन्देश** तेरह साल चला था। १९२३ में मेरे पिताजी का देहांत हुआ। १९२६ में **सन्देश** बंद हो गया था। उसके बाद १९३१-३२ में सुविनय, यज्ञ और मेरे चाचाजी ने फिर से **सन्देश** को पुनर्जीवित किया। तब शायद तीन या चार साल चला था। उसके बाद फिर बंद हो गया था।

उसके बाद १९६१ में आपने उसे नए सिरे से फिर से शुरू किया क्यों, पिताजी और चाचाजी की शुरू की गई पत्रिका को चलाने के लिए यानी इस पारिवारिक परम्परा को जारी रखने के लिए? नहीं यह बिलकुल सही नहीं है।

बात यह है कि सुभाष मुखोपाध्याय के साथ मैं कभी-कभी इतवार को गप्पे मारता था। इन्हीं गप्पों के बीच ही सुभाष या मैंने कहा था अब याद नहीं कि **सन्देश** को फिर से निकालें तो कैसा रहेगा। सम्भवतः सुभाष ने ही मुझसे कहा था क्योंकि मुझे यह आइडिया जँच गया और उसी वक्त हम लोगों ने नया करके शायद छह महीने के अंदर **सन्देश** निकाल दिया। तब यह सब खूब उत्तेजक लगा था।

सन्देश पहले जब निकला था, तो मुख्यपृष्ठ कितना सुन्दर था, अंदर के पन्ने भी। मगर इन पच्चीस सालों में बाकी सभी पत्रिका जब चिकने कागज पर छपने लगी हैं। आप लोगों ने भी सन्देश के लिए ऐसा क्यों नहीं किया।

हम लोगों के पास वह साधन ही नहीं है। हम लोगों के पास अपना प्रेस ढेरों रुपया और लोग नहीं हैं।

मगर रुपए तो आप लोगों के चाहने पर मिल सकते हैं मानिक चाचा। मतलब आपके एक बार कहने से ही ढेरों विज्ञापन वाले आ जाएँगे?

कहाँ, उससे नहीं आता। मैं तो खुद ही चिट्ठियों पर दस्तखत करता रहता हूँ। माने मुझसे कराया जाता है। मगर उस अंक में भी विज्ञापन जहाँ आता है। इस सम्बंध में मैं बहुत निराश हूँ। पत्रिका को और सुन्दर बनाना चाहता था। मगर विद्वान व्यक्ति बिना पैसे के रचना क्यों देंगे? वैसे हम लोग खुद भी कोई पैसा नहीं लेते। मगर बहुत समय हम लोग लेखकों को भी पैसा नहीं दे पाए।

वह मुझे अच्छा नहीं लगता। वास्तव में मैंने बहुत बार कहा था **सन्देश** अब बंद कर दो। इस तरह नहीं चलता। पूजा विशेषांक, सुनील, शीर्षेन्दू या और किसी से कहना आपका एक लेख दीजिए। अब वे प्यार से देते हैं यह ठीक है। मगर हम लोगों की तरफ से उनके लिए कुछ करने का उपाय नहीं रहता। हम लोगों के लिए इसे निपटाने जैसा होता है। किसी तरह खर्च चलता रहता है। मैंने तय किया था कि चूँकि पहली बार **सन्देश** तेरह साल चला था, इसलिए मैं भी कम से कम तेरह साल चलाऊँगा। उसके पहले बंद नहीं करूँगा। अब पच्चीस साल हो गया है- पता नहीं कैसे हो गया? यह सोचता था कि पक्के ग्राहक निराश हो जायेंगे अगर संदेश बंद हो गया तो इसके उपरांत एक प्रक्रिया हो जाती हैं। मासिक पत्रिका की जो स्वचालित ढंग से तुम्हें अपने साथ खींच ले जाती है।

क्या आपने पहले अंक से ही लिखना शुरू कर दिया था?

पहले अंक में मैंने लिखा था। मगर शुरू में मैं, लियर और लुईस, केरल (चर्च में गाया जाने वाला गीत) का अनुवाद करता था। पाँचवें या छठे अंक से शायद मैंने कहानी लिखना आरंभ किया। फिर उसके बाद कभी नहीं रुका। एक के बाद एक, अनेक प्रकार के आइडिया मिलने शुरू हो गए।

विशेष रूप से बच्चों की कहानियों की तरफ आपका खूब ध्यान रहा है- क्यों?

क्यों, यह तो नहीं जानता। बचपन में जो कहानियाँ पढ़ीं हों या माँ से सुनी थी- कानन, डायल आदि खूब कम उम्र में ही मैंने शार्लाक होम्स पढ़ा था, शायद स्कूल के दिनों में ही- उसके बाद, मैं खुद अखबार का ग्राहक था। वह एक बच्चों की पत्रिका थी। इसी तरह और क्या? क्यों बच्चों के लिए लिखना शुरू किया वह तो नहीं कह सकता। फिर भी यह अचानक हो गया तो अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ और प्लान दिमाग में आने लगे। वह सब लिख इ-तना जरूरी समझकर, वहीं से कहानी लिखना शुरू किया। शुरू में लिखा था 'बंकूबाबूर बंधू' (बंकू बापू का दोस्त) विज्ञान की कहानियों में मेरी दिलचस्पी थी इसलिए उसमें उसका तत्व था। फिर काजुन भार्न, एच.जी. उवेल्स, कानन डायल- यह सब पढ़ा हुआ था, बचपन से प्रभावित बंगला परिवेश में उन्हीं चीजों को किस तरह से व्यवहार करना चाहिए यह विचार मेरे मन में आते रहते हैं। बाद में शंकु अंतरर्राष्ट्रीय हो गया था- पूरा विश्व घूम रहा था।

'पेंग्विन' द्वारा प्रकाशित आपके कहानी संकलन कहानियों का आपने खुद अनुवाद किया था मगर अनुवाद को छोड़कर क्या कभी भी खुद अंग्रेजी में कहानी नहीं लिखी?

अगर सच बताऊँ तो एक कहानी मैंने लिखी थी। वह बहुत बचकानी कहानी थी। शांति निकेतन में जब छात्र था, तो दो कहानियाँ अमृतबाजार में छपी थीं। उसमें शायद पाँच या दस रुपये मिले थे। सिर्फ एस. नाम से लिखी थी, पूरा नाम सत्यजीत राय से भी नहीं। ये कहानियाँ मूल रूप से अंग्रेजी में लिखी थीं बहुत पहले, १९४० में। उसके बाद फिर कभी अंग्रेजी में नहीं लिखी।

मगर यदि लिखते तो ज्यादा लोगों को पढ़ने का मौका मिलता।

वह तो है ही। मगर **सन्देश** को फिर से निकालने से पहले कहानी लिखने की कोई जरूरत है, कहानी लिखने के लिए भी समय देना पड़ेगा, यह बात मेरे मन में बिलकुल नहीं थी। मैं कभी लेखक बनूँगा, यह बात मेरे दिमाग में कभी आई ही नहीं थी। उससे पहले किताबों का काम मैंने बहुत किया था। किताबों के रेखा चित्र डिजाइनिंग और फिल्म, मुझे ऐसा लगता ये चीजें ही मेरे लिए पर्याप्त हैं। इसके बाद और कुछ करने की जरूरत का दायित्व है मैंने ऐसा महसूस नहीं किया था।

आपके लेखन में से एक चीज मझे बहुत अनोखी लगी है। ऐसे कुछ पात्र हैं आपकी कहानियों में, जिनके पास भीषण शारीरिक-मानसिक शक्ति है और साथ ही साथ उनमें है बच्चों जैसी सरलता। जैसे रतन और लक्ष्मी का रतन।

रतन जब राक्षस बन गया था तब भी वह सोलह साल के किशोर की तरह गाना गाने लगा था। उसके पास जो शक्ति है, उससे वह आसानी से सबको मारकर कैदखाने से मुक्त हो सकता था, मगर उसने ऐसा नहीं किया था। फिर आपके कम्प्यूटर कम्पू को ही ले लो "कम्पू" में बच्चों के साथ खेलने के लिए इच्छा रहने के साथ-साथ एक सरल अभिव्यक्ति है। फिर अन्य ग्रह का प्राणी "गोलापीबाबू" या प्राग ऐतिहासिक चिड़िया "बृहच्चश्नू" और रोवर "विधूशेखर" इनके बीच भी उसी प्रकार की विशेषता देखी गई है। ये सभी पात्र या तो रूपकथा के हैं या फिर दूसरे ग्रह के या कोई मशीन हैं। वास्तविक जीवन में मनुष्य कोई भी नहीं है। ऐसा क्यों? क्या आप ऐसा सोचते हैं कि वास्तविक जीवन में लोगों में सरलता और ईमानदारी मिलनी संभव नहीं है। तो क्या तुमने मनुष्य पर से विश्वास खो दिया है। क्या जिस ढंग से दुनिया निराश कर रही है उससे तुम निराश हो?

(चुप्पी) इस तरह तो मैंने कभी नहीं सोचा। मगर एक चीज है कि अकेले आदमियों में मेरी गहरी रुचि है। मेरी अनेक कहानियों में तुमने देखा होगा कि सिर्फ एक आदमी होता है जिसने शादी नहीं की तो बच्चे नहीं होते, अकेला रहता है। उसका कुछ प्रीआम्प्यूपेशन है, जैसे असमंज बाबू, बकूं बाबू तो बिल्कुल ही अकेला है किसी के साथ वह मेल नहीं खाता।

और रतनबाबू तो है ही।

रतनबाबू तो है ही। कहानी के पक्ष के लिए मैं खूब जानकार रहता हूँ वही मैं जब कहानी लिखने जाता हूँ तो अकेले लोगों को लेकर लिखने की इच्छा होती है।

क्यों क्या आप खुद भी ऐसा कुछ महसूस करते हो? अपनी प्रसिद्धि के कारण?

शायद... मैं खुद तो... मैंने जीवन का बहुत समय अकेले गुजारा है, क्योंकि मेरा कोई बहन-भाई नहीं था। बचपन में तो बहुत अकेला था। घर के नौकर के लड़के के साथ दोस्ती थी। उसको छोड़कर और कोई दोस्त नहीं था। अपना दिमाग लगाकर ही जो कुछ कर सकता था वह किया शायद उसी के कुछ अवशेष रह गए होंगे। एकाकी क्या चीज है- यह मैंने अपने जीवन के अनेक बार महसूस किया है। वैसे बाद में स्कूल में पड़ोस में दोस्त बने हैं, कॉलेज में भी। मगर अंततः मान लो अब पिछले पंद्रह बरसों में जो मेरे हम उम्र थे उनमें से बहुत का देहांत हो गया है। जैसे डेविड मेकसीन, बंशी ये तो चले ही गये थे। वैसे काम के समय खूब लोग आ जाते हैं और उनके साथ एक सम्बन्ध भी बनता है। उनके साथ मिलकर ही फिल्म बनती है- अकेले तो नहीं हो सकता। मगर ज्यादातर समय जब मैं फिल्म की शूटिंग में व्यस्त नहीं होता तो बहुत अकेला होता हूँ। यह एकाकीपन जरूरी भी है, इसलिए इसके लिए मेरे मन में कोई अभावबोध या अफसोस नहीं है। वैसे मेरी पत्नी और बेटा मेरे बहुत बड़े दोस्त हैं। मेरा बेटा भी इसी व्यवसाय में है। मंकू (विजया) भी, तुम तो जानती हो, मेरे सभी काम में किस तरह सहायता करती हैं। वह मेरी कड़ी आलोचक हैं और उनकी राय में मैंने अनेक बार पटकथा भी बदली है। इसके बावजूद मेरे कुछ ऐसे दोस्त भी हैं जिनकी

उम्र मुझसे कम या ज्यादा है। वे मुझे वहुत मानते हैं।

अच्छा एक चीज पर मैंने ध्यान दिया है कि आपके ज्यादातर पात्र या तो निम्न मध्यवर्ग के, क्लर्क आदि हैं या फिर कोई छोटा-मोटा काम करते हैं, मगर फिर भी उनके पास एक अपनी कल्पना की दुनिया है।

यह मुझे अच्छा लगता है सोचकर। उनके वारे में हम लोग खूव ज्यादा सोचते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि वे समाज के निचले स्तर से आये हैं, उनके अंदर अगर कल्पनाशीलता है, उस तरह का शौक है जैसे **असमंज वावू** का शौक है, कुत्ते पालना। वह कुत्तों को साहव की जाति का सोचता है और उसका शौक है कि वह उसको अंग्रेजी में वैठना-खड़ा होना आदि सिखाएगा। तव तथ्यों, विशेष धारा के कारण मुझे लगता है, यह ज्यादा दिलचस्प होता है। साधारणतः जो लोग कुछ पढ़ते-लिखते हैं, कुछ उच्च वर्ग के, उनकी समस्या मुझे वहुत रुचिकर नहीं लगती। मुझे अच्छा लगता है, इसी तरह के छोटे-छोटे लोगों को लेकर लिखना। जैसे **वृहच्चचश्नू**। एक साधारण वैंक का क्लर्क है। उसका शौक कुछ पालना है। इसलिए एक अंडे से जव-जव उसे एक ऐतिहासिक चिड़िया मिली तव-तव वह उसे पालने लगा। यह घटना भी मुझे अच्छी लगती है- एक अतिवादी जो विलकुल असम्भव है, जिस तरह यह चिड़िया है या कुत्ता हँस रहा है (असमंज वावू का कुत्ता) उसका विश्वास किया जा सकता है सिर्फ परिकल्पना के सहारे ही। इसमें मैं कोई अद्वितीय हूँ- ऐसा नहीं कहूँगा। **कानन डायल, एच.जी. उवेल्स** सभी इस तरह के विषय पर लिख चुके हैं। मुझे यह वहुत अपील करता है।

मैं समझी, मगर इसके वावजूद एक और वात है। प्रोफेसर शंकू जव विधुशेखर वनता है, सिर्फ थोड़े से रुपयों से। यह क्या इसलिए कि रुपयों से ज्यादा हो जाने से अनेक पाठकों से परिचय नहीं वना। नहीं तो सच में इतने कम रुपयों में २३३ या कितना एक यन्त्रमानव तो वनाना सम्भव नहीं है?

वात दरअसल यह है कि- शंकू जव पहले खोज करता है, तव विष्णु शेखर का मजारिया पात्र है। उसका अविष्कार हुआ था मेरे पिताजी को लिखे **हेसोराम-हुसियारेर डायरी** से। **हेसोराम-हुसियारेर डायरी, कानन डायल** के **लास्ट वर्ल्ड** को लेकर एक व्यंग्य कहा जा सकता है। उन्होंने अजीव-अजीव प्राग-ऐतिहासिक जानवरों का अविष्कार किया है और उनको अजीव-अजीव नाम भी दिया है। **गोनड़ाथेरियम लेगवेगनिस** यह सव। शंकू चरित्र जव पहले शुरू हुआ या तव यह सिर्फ **हेसोराम हुसियारेर** की तर्ज पर था। वाद में धीरे-धीरे गंभीर चरित्र वन गया। अव मैं विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकता कि इतने कम रुपयों से कोई एक रोवोट वना सकता है या नहीं?

मगर आश्चर्य प्राणी में भी देखा कि शंकू ने जिस आदमी को वनाया वह देखने में विल्कुल शंकू जैसा नहीं है- मगर...

उस ग्लास के अंदर जो विकसित हुआ था?

हाँ। विकास से आदमी वना- मगर उसे पृथ्वी के लोगों की तरह चश्मा, कपड़े यह सव कहाँ से मिले मतलव, कोई कारखाना तो दिखाया नहीं गया था।
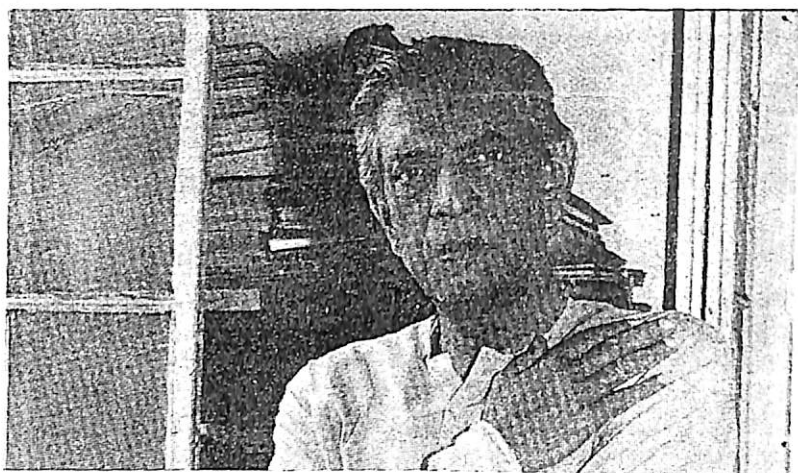
यह क्या इच्छाकृत था?

वह तो है ही। उसने खुद तैयार किया, इसलिए चेहरा उसके जैसा बना। यह एक अतिरिक्त प्रमाण है कि वह शंकू से ही बना है दूसरे वैज्ञानिक से नहीं- जिसको देखकर वह बहुत अपसेट हो गया था और क्या।

आपकी कहानियों में पात्रों में एक और विशेषता मैंने देखी है। वह यह कि बहुत जल्दी अपना फैसला बता सकते हैं। इन्हें कोई विशेष दुविधा नहीं होती डर भी नहीं लगता। जैसे फेलू दादा। अच्छा मान लो फेलू दादा जासूस है मगर लालमोहन बाबू तक मगनलाल के चाकू के सामने निडर होकर खड़े हो गए थे। फिर रतन। रतन को जब पता चला कि वह राक्षस बन जाएगा, तब सिर्फ तीन घंटों के अंदर उसने ठंडे दिमाग से फैसला ले लिया था कि इसके बाद उसे क्या-क्या करना होगा।

हाँ। यह सही है।

क्या इसलिए कि आप खुद भी बहुत जल्दी निर्णय ले सकते हो?

हो सकता है और कोई कारण मुझे मिल नहीं रहा है। वैसे अपने काम का विश्लेषण करना बहुत कठिन है। मैं कहाँ तक यह कर सकूँगा, नहीं जानता। यह सिर्फ मेरे आलोचक ही कर,सकते हैं।

मगर यह बात मंगेश देसाई ने भी कही थी मुझे- कि आप रिकार्डिंग के समय क्या चाहते हो और क्या नहीं चाहते, बहुत जल्दी दूसरा फैसला कर लेते हो?

वैसे यह सही है। मान लो एक फिल्म के समय जब कपड़े आदि खरीदने जाना

होता है। जैसे शतरंज के खिलाड़ी के लिए प्राय: पूरी खरीदारी मुझे ही करनी पड़ी थी। वंशी कहता था- नहीं और देखो और थोड़ा देखो, मगर मैंने तुरंत इस बात को समझ लिया था कि मुझे इसी की जरूरत है।

क्या आप पहले से सोचकर नहीं रखते, देखकर ही समझ सकते हो?

शायद मैं बहुत जल्दी यह समझ सकता हूँ कि ऐसे-ऐसे रंगों वाली चीज हो तो एक दृश्य में इस तरह की **कलर-स्कीम** होगी इसलिए मुझे यही रंग चाहिए। मेरे बिल्कुल तय विचार हैं कि मुझे क्या करना है। अगर कोई कहानी मेरे दिमाग में बनती है- जो यदि लघुकथा है तो वह एक ही दिन में लिखता हूँ। **फेलू दादा** मैंने दस दिन में लिखा था। मैं **चित्रनाट्य** भी दस दिन में लिखता हूँ। पंद्रह दिन से ज्यादा समय मुझे नहीं लगा। मगर हाँ- उसके बारे में सोचने की, चिंतन करने की एक अवधि है- जिसमें दिमाग में पूरी बात साफ हो जाती है। उसके बाद एक बार लिखना शुरू करता हूँ फिर बिल्कुल नहीं रुकता।

चिंतन करने के समय क्या कोई नोट्स लिखते हैं?

नहीं कोई जरूरी नहीं है। कहानी के मामले में ऐसा कभी नहीं करता, चित्रनाट्य के समय तो लिखना ही पड़ता है। मेरी लाल रंग की कॉपी में छोटी-छोटी बातें लिखी रहती हैं। यदि किसी पात्र के बारे में सोचते समय विशेष बात का ध्यान आया, जिसका उपयोग करना होगा तो वह भी लिख लेता हूँ।

आप तो आजकल परी कथा भी लिख रहे हैं न?

लिखी हैं। मतलब एक साथ चार। **सन्देश** में एक छपी है पिछले फागुन और चैत महीना में, एक बैशाख के **सन्देश** में। बाकी छपी हैं **नीलकमल, लालकमल** और **आनन्द मेला** में। इन चार कहानियों को शायद मैंने पंद्रह दिनों के अंदर लिखा है। उसके बाद बस और नहीं लिखा फिर लिखने को बहुत एक...

और नहीं लिखेंगे?

मुझे नहीं पता। दिमाग में कब क्या आता है, विचार किस तरह आते हैं, कहा नहीं जा सकता है।

परीकथा लिखने की आपकी जो शैली है वह बिलकुल अलग लगती है मुझे। इसकी भाषा अन्य प्रचलित परीकथाओं की तुलना में दूसरी है।

हाँ। वैसा तो करना ही चाहिए। विषय के हिसाब से भाषा शैली भी निर्भर करती है।

सही है। मगर आपकी कहानी की परिस्थिति जैसे शंख के अंदर से बात सुन पाना (बनाई कथा) या रतन का राक्षस बन जाना- यह सब तो रूपकथा का ही दृश्य हैं न? दे फाल वेरी मच विदिन, द रीलम ऑफ फेयरी टेल, मगर साधारणत: जो गीतात्मक भाषा पहले परीकथा में व्यवहार में होती थी, जैसे-

जैसे अवनीबाबू ने लिखी थी?

हाँ। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर या ठाकुरदादार सुलि या ठाकुरमॉट झुलि, दक्षिनारंजन मित्रमजूमदार-

नहीं, वैसा लिखने की इच्छा मुझे नहीं हुई। परीकथा लिख रहा हूँ, इसलिए क्या दक्षिनारंजन की भाषा में ही लिखना पड़ेगा? उसमें तो उपनेन्द्र किशोर की भाषा-

इतना माण्यिक नहीं-

हाँ, यह टेम्परामेंट की बात है।

बच्चों के लिए उस तरह के लेखन के बारे में आप क्या सोचते हैं?

मुझे लगता है अवनीबाबू का लेखन बच्चों के लिए बहुत कठिन है। मगर यह बात बच्चों से बिना पूछे कहना मुश्किल है। हम लोगों ने कभी बहुत छोटी उम्र में यह सब... पढ़ा है शायद... मगर तब पहले पढ़ा था और अब फिर से पढ़ रहा हूँ... इसके बीच में एक फर्क तो है ही। अब अलग स्वाद लगता है और क्या।

अब कैसा लगता है?

अब बहुत .... बहुत अच्छा लगता है।

दक्षिनारंजन तो बहुत ही अच्छा है... अब भी याद है ठाकुरदास झुलि में रानी पूर्व दिशा में खड़ी हुई, हवा आग हुई... पश्चिम में खड़ी हुई, हवा दुगनी हुई... बांग्ला भाषा का एक संगीत...

सिर्फ वहीं नहीं, वे टायपोग्राफी में ऐसी कोशिश करते थे, अभी-अभी एक वाक्य के बीच में डालकर बोल्ड टाइप में करते थे, विस्मयादिबोधक चिह्न व्यवहार करते थे और कुछ-कुछ करते थे, जो आज तक किसी ने नहीं किया। उस व्यक्ति ने ऐसे माध्यम की खोज की थी यह कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए कि सिर्फ शब्दों को सजाने का मतलब टायपोग्राफी में दिये परिवर्तन करने कि किस तरह एक भाषा को सहायता की जा सकती है... यह उन्होंने दिखाया है। वाक्य को विशेष रूप से सजाना, इटेलिक करने के बदले बोल्ड टाइप व्यवहार करना... यह सब और किसी ने नहीं किया... अवनीन्द्रनाथ ने भी नहीं।

वैसे मेरा विचार था कि आप शायद प्रचलित प्रशंसिका की भाषा में लिख रहे हैं, इसका कारण है, चारों तरफ का परिवर्तन... यानी भाषा का भी एक परिवर्तन होना जरूरी है न?

थोड़ा सा वही... मतलब उस भाषा में लिखने से बहुत पुराने दिनों की अप्रचलित शैली के ज्ञान व्यवहार का इस्तेमाल होना मतलब आत्म जागरूक बन जाते और अचानक मेरे लेखन की भाषा में ऐसा परिवर्तन लाने की इच्छा मुझे नहीं हुई।

मगर क्या आप ऐसा सोचते हैं कि परीकथा की जरूरत है?

परीकथा की जरूरत तो है ही... मगर थोड़ा सा आधुनिक तत्वों के साथ। जैसे

कानाईमेट कथा में है तांतियों की विद्रोह वाली बात। इस प्रकार के कुछ तत्व यानी थोड़ी-सी आधुनिकता भर सकें तो वह रचना और कुछ दिलचस्प हो सकती हैं।

बच्चों या बड़ों के लिए लिखी गई आपकी कहानियों में अगर शैली की समानता देखी जाए तो कुछ हद तक विषयों के बारे में भी कहीं फर्क नहीं है।

मैं सोचता हूँ **आर्यशेखर जन्म उ मृत्यु** में अलग प्रकार की शैली है।

हाँ, वह अलग प्रकार की शैली है और फंटिक चाँद में भी एक अलग स्टाइल है। इन दोनों को छोड़ दिया जाए तो... जैसे मयुरकंठी जेली आपने बड़ों के लिए लिखा था मगर बच्चे भी उसे पसंद कर सकते हैं। इस तरह की और भी कहानी तुमने लिखी हैं। स्वगम या रतनबाबू आर सेई लोकरा बच्चों के संकलन में निकला है मगर यह सब बड़ों के लिए भी हो सकते थे। इसका कारण क्या है? क्या तुम बच्चों को परिपक्व समझते हो या फिर बड़ों को अपरिपक्व?

(हँसकर) ऐसा कुछ नहीं है। मुझे तो बहुत पत्र मिलते रहते हैं, कम उम्र वाले लड़के-लड़कियों से। मैं जानता हूँ वे शंकू को खूब पसंद करते हैं। वैसे **आर्यशेखर जन्म उ मृत्यु** में नहीं सोचता बच्चों के लिए है। यह बहुत व्यापक है। मगर बाकी कहानियाँ... असल में... मैंने खुद जब इतनी कम उम्र में **कानन डायल, एच.जी. उवेल्स, याजुन भार्न पढ़ा था...** तो मैं सोचता हूँ मेरी उस उम्र की मानसिकता और बच्चों में भी शायद रह सकती है... वे भी शायद वैसी रचनाएँ या कहानियाँ पसंद कर सकते हैं। इसलिए मैंने कभी भी उस तरह से बच्चों और बड़ों में विभाजन नहीं किया। वैसे मैं नहीं जानता कि मेरी लिखी दुर्भ्य परीकथाओं को पढ़कर बड़ों को कैसा लगेगा। यह भी नहीं लिख सका... नहीं लिखा मेरे पास वह क्षमता है, नहीं है। उनके लिए लिखने की क्षमता मेरे दादाजी के पास थी और दूसरे लोगों के पास है। **योगीन सरकार** के पास थी। मगर मेरे पास नहीं थी और मैं सोचता हूँ मेरे पिताजी के पास भी नहीं थी।

मतलब टुनटुनिट बर्ड की तरह आपने कुछ नहीं लिखा है...

लिख भी नहीं सकता... यह कोशिश भी मैंने कभी की नहीं।

रतनबाबू और सेई लोकरा 'स्वगम' और 'प्रीट्स'... कुठ के तीनों कहानियों का मुझे बहुत लग रहा है।

हाँ। सही है। वास्तव में जब **सगम** कहानी **सन्देश** में भेजी गई थी तो मुझे थोड़ा सा शक था इसे पढ़कर बच्चों को कैसा लगेगा। ज्यादा डरावना लगेगा या नहीं...

इसके बावजूद इस कहानी में एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी है। एक आदमी धीरे-धीरे साँप बन गया। अच्छा मानिक चाचा, मैंने जब समाप्ति में अभिनय किया था तब तो मैं बहुत छोटी थी। तब देखती थी मेरे मान्य और बड़ों के साथ आपके व्यवहार में कोई फर्क नहीं था।

नहीं, ऐसा मैं नहीं करता। मैं बच्चों से, बड़ों से बराबर का व्यवहार करता हूँ।

यही चीज शायद आपके लेखन में भी प्रकट होती है?

हाँ। यह हो सकता है।

आपके लिखना शुरू करने के बाद से बच्चों में बांग्ला किताब पढ़ने की आदत बहुत बढ़ गई है। यह बात बहुत लोगों ने मुझसे कही भी है।

सिर्फ यही नहीं। एक और चीज मैंने देखी है लोरेटा (कान्वेंट स्कूल) में पढ़ने वाली लड़कियों ने भी बांग्ला पढ़ना शुरू किया है। सिर्फ फेलू दादा पढ़ने के लिए। ऐसा बहुत हुआ है। मुझे बहुत पत्र मिलते रहते हैं फेलू दादा का पता पूछते हुए। कईयों का पूछना है... सच में क्या फेलू दादा हैं? वह कौन है? हमें तो बिलकुल अपना सा लगता है। यह नाम भी इतना साधारण और सहज है।

रोमांटिक नाम नहीं...

बिलकुल नहीं...

एक प्रश्न है जो मेरी बेटी मुझे बचपन में करती थी और अनेक छोटी लड़कियों को यह शिकायत है... वे सोचती हैं...

मेरी कहानियों में लड़की नहीं रहती। हाँ यह शायद अनजाने में एक आनुवांशिक घटना है, क्योंकि मेरे दादाजी और पिताजी की कहानियों में भी कोई लड़की नहीं हुआ करती थी (मुस्कराकर)।

वह आपके लिखे हुए छिन्नमस्तार अभिशाप में एक लड़की है... विवि। खूब प्यारी सी लड़की।

हाँ बहुत छोटी सी। मुश्किल यह था कि अगर कोई युवा लड़की होती तो वापस (एकमात्र) के साथ उसका टकराव हो जाता या फिर तपस के साथ उसका संबंध नया होगा इनको लेकर एक समस्या खड़ी हो जाती। एक संरचनात्मक समस्या होती।

बहुत बुद्धिमान एक लड़की थी अम्बर सेनेट अन्तर्धान रहस्य में। फेलूदादा को बुद्धू बना दिया था उसने, मगर ऐसे चरित्र बहुत कम हैं।

हाँ। अब मैं इस विषय में बहुत सचेत हो गया हूँ क्योंकि लड़की पात्र को लेकर मेरे पास इतने पत्र आ चुके हैं कि मैं सोचता हूँ इस विषय में कुछ करना पड़ेगा।

आपकी कहानियों में जिन लड़कियों का प्रवेश हुआ है, उनमें से आन्यावेला (तारिपीखुरा उ लखनऊ डेबेल) कुछ दूसरी तरह की है। मतलब उसकी जैसी चतुर लड़की ने किस तरह बिलकुल ठंडे दिमाग से प्लान बनाकर खून तक कर डाला था।

उसके मामले में यह हुआ कि... पहले ही बता चुका हूँ, वह एक डाकू जैसी लड़की है। एक अच्छी घुड़सवार है, बंदूक का निशाना अच्छा लगा सकती है। इसलिए वह कुछ नई जैसी है, कुछ होने वाली और जो चाहती है उसे पाने के लिए बहुत कुछ कर सकती है। यह शायद मेरी कहानी की शुरूआत में ही लिखा गया है।
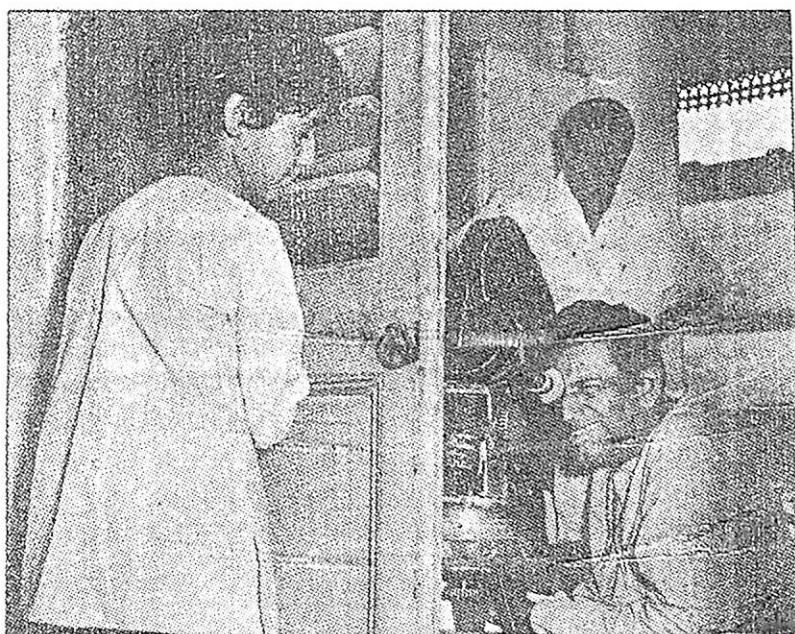
क्या आप उसे पसंद करते हो। यानी क्या आप उसके पक्ष में हो?

अवश्य ही उसके पक्ष में हूँ, बिल्कुल हूँ।

मेरा अंतिम प्रश्न... लड़कियों के बारे में आपके विचार क्या हैं? मतलब मैं खुद स्त्री हूँ इसलिये जानना चाहती हूँ और इसे पढ़नेवाले भी शायद जानना चाहेंगे।

इस बारे में मेरी दो जानकारी हैं। मैंने अपने विचार सिर्फ कहानियों के माध्यम से नहीं रखे, मेरी फिल्में भी तो हैं। मैं सोचता हूँ, इस प्रश्न का जवाब मेरी फिल्मों से ही निकालना चाहिए। मेरा लेखन तो इतना प्रतिनिधिक नहीं है... मतलब मैंने फिल्मों में जितना अपने आपको खोला हैं विभिन्न विषयों के माध्यम से इतना कहीं और नहीं।

जैसे महानगर या महापुरुष में लड़कियाँ बहुत दृढ़ हैं और सीमाबन्ध की लड़की भी अपने विवेक से काम करती है...

बिल्कुल सच बात यह है कि अरन्येर दिनरात्रि में भी लड़कों के मुकाबले लड़की का चरित्र ज्यादा सकारात्मक है। लड़कियों के संबंध में शायद मेरे विचार कुछ अवचेतन में दृढ़ धनव्यय हैं कि वे ज्यादा ईमानदार हैं, ज्यादा दूरदृष्टि संपन्न हैं। शारीरिक रूप से वे पुरुषों से कमजोर हैं इसलिए कुछ पूरक बातें हैं। जो उनकी कमजोरियों को अन्य दिशाओं से पूर्ण करती हैं। यह उनके चरित्र में ही है शायद ऐसा मुझे लगता है।

अनुवाद : पापोरी गोस्वामी

एक शाश्वत छवि

मृणाल सेन

सत्यजीत राय ने एक टेलीविजन साक्षात्कार में कहा था, मैं अपने कार्य में इतना व्यस्त हूँ कि मेरे पास मृत्यु के बारे में चिंता करने का समय नहीं है। साक्षात्कारकर्ता विक्रमसिंह ने कहा, इस साक्षात्कार के दो घंटे बाद सत्यजीत राय को भीषण हृदयाघात हुआ।

वर्षों पूर्व सन् १९८३ के उत्तरार्द्ध में यह घटना हुई थी। इस लगभग घातक हृदयाघात के कुछ ही समय बाद हमारे छोटे से अपार्टमेंट में एक पत्र आया। यह पत्र शिकागो से बड़ा सफर तय करता हुआ आया था, जहाँ हमारा इकलौता बेटा इलेक्ट्रॉनिक्स और कम्प्यूटर विज्ञान का अध्ययन कर रहा था और अब भी कर रहा है। यह पत्र मेरी पत्नी को संबोधित था।

मेरी पत्नी रसोईघर में खाना बनाने में बहुत व्यस्त थी। उसने मुझसे कहा कि मैं

उसे वह पत्र पढ़कर सुनाऊँ। मैंने एक स्टूल खींचा, उस पर बैठ गया, तेजी से लिफाफा खोला और पत्र को जोर से पढ़ने लगा।

(यह पत्र बिना किसी औपचारिक परिचय के लिखा गया था और प्रयोगशाला में कार्य करते समय जल्दबाजी में लिखा गया था।) उसमें लिखा था,

*माँ, तुम्हें याद होगा कि एक बार तुम मुझे एक फिल्म दिखाने ले गई थीं वह सत्यजीत राय की **अपराजितो** फिल्म थी। तुम उसे दूसरी बार देख रही थीं और मैं उसे पहली बार देख रहा था। मैंने देखा कि तुम रो रही थीं। घर लौटकर तुम बहुत रोयीं। तुमने मुझे अपने पास खींच लिया। तुमने मुझे दुलारा और कहा, जब तुम अपू जितने बड़े हो जाओगे तो क्या तुम वैसा ही करोगे? क्या तुम वैसा ही करोगे जैसा कि अपू ने किया? क्या तुम मुझसे दूर भाग जाओगे और पढ़ने के लिए बहुत दूर चले जाओगे? मैं तुम्हें चेतावनी देती हूँ कि यदि तुम वैसा ही करोगे तो वैसा ही होगा जैसा कि फिल्म में हुआ है। जब तुम लौटोगे तो तुम मुझे देख नहीं पाओगे। मैं जिंदा नहीं रहूँगी।*

मैं कुछ पल के लिए रुक गया और अपनी पत्नी की ओर देखने लगा, जो कि मेरी ओर देख रही थी। हम हैरान थे कि बेटा क्या कहना चाहता है। मैं आगे पढ़ने लगा:

*पिछली रात मैं अपने कुछ मित्रों के साथ, जो कि सभी भारतीय थे, फिल्म **अपराजितो** देखने के लिए हमारे यूनिवर्सिटी फिल्म क्लब में गया। मैं यह फिल्म दूसरी बार देख रहा था। इस बार मैं उतना ही अधिक रोया जितनी की तुम वर्षों पहले*

आलोचकों ने एक ऐसा माहौल बना दिया कि उस माहौल ने आम आदमी को, सामान्य दर्शक को सत्यजीत राय से काट दिया। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो आज एक वर्ग में सत्यजीत बाबू जितने आदरणीय हैं, उससे ज्यादा वे साधारण दर्शकों में आदर पाते। पर आलोचकों ने ऐसा नहीं होने दिया। सत्यजीत बाबू की कोई भी फिल्म कठिन फिल्म नहीं है। पर आलोचकों ने साधारण दर्शकों को उनके पास से भगा दिया, यह कह-कह कर कि सत्यजीत बाबू की फलां फिल्म में यह है, फलां फिल्म में यह नहीं है। वे उनकी फिल्मों में वह सब देखने लगे जो उनमें था ही नहीं। नतीजा यह हुआ कि सामान्य दर्शक उनसे दूर होता गया।

वासु भट्टाचार्य

उनका शुमार संसार के बेहतरीन निर्माता-निर्देशकों में निर्विवाद होता है और मेरी राय में उनका संसार में कोई सानी नहीं है।

उत्पल दत्त

उनसे अभिनय के क्षेत्र में बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। उनकी महानता इसी में है कि वे सबसे एक आम आदमी की तरह मिलते-जुलते रहते हैं। पल भर के लिए भी किसी बच्चे तक को उनका साथ खल नहीं सकता क्योंकि वे बड़ी आसानी से उसी की तरह बन जाते हैं।

सौमित्र चटर्जी

रोयीं थीं। फिल्म देखने के बाद मैं अपने मित्रों के साथ घर लौट आया। भोर होने तक हम लोग उस फिल्म पर उत्तेजनापूर्ण बहस करते रहे। मेरे जो मित्र यहाँ बसना चाहते हैं, उन्होंने और उन कुछ मित्रों ने, जिन्हें यहाँ नौकरी मिल गई है, यह तर्क प्रस्तुत किया कि माताओं को इतनी अधिक प्रत्याशा नहीं करनी चाहिए। क्या पुत्रों को अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने की बात नहीं सोचनी चाहिए? माताओं को स्वार्थी होने का और अपने बेटों को अपने से दूर जाने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है। मरकर बदला लेना माताओं का घोर अन्याय है।

बदला! मैंने अपनी पत्नी की ओर देखा और पत्र पढ़ने लगा।

माँ, विश्वास करो कि मैं उनसे सहमत नहीं था। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मैं वादा करता हूँ कि मैं लौटूँगा। मुझे लौटना ही होगा। जैसे ही मेरा काम पूरा हो जायेगा, मैं यहाँ बिल्कुल नहीं रुकूँगा।

मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरा गला रुंध गया था। मैंने अपनी पत्नी की ओर देखा। वह खाना बनाने में व्यस्त थी और रो रही थी। जाहिर है कि मेरे पुत्र और उसके मित्रों को उस भौतिक जगत की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं थी जहाँ अपू रहा करता था। यह भी सच है कि ***अपराजितो*** की कहानी तीसरे दशक से सम्बन्ध रखती है और फिल्म छठे दशक के मध्य में बनायी गयी थी। नवें दशक के मध्य में शिकागो में अध्ययन कर रहे स्पन्दनशील भारतीय युवक यह फिल्म देख रहे थे और पर्याप्त गहनता के साथ प्रतिक्रिया कर रहे थे। वर्षों के फासले के बावजूद अपू का जगत शिकागो के युवा दर्शकों की आसान पहुँच के भीतर आ गया था। उन्होंने प्रतिक्रिया

मानिक दादा के साथ काम करने का सुख ही और था। पटकथा पढ़ना शुरू होने के वक्त से ही उनका निर्देशन आरंभ हो जाता था। विशेष रूप से स्त्री पात्र के बारे में वे समझाते रहते। कैमरा-एंगलिंग में उनका ज्ञान बहुत पक्का था। कौन-सी अभिनेत्री किस एंगल से सबसे अच्छी लगेगी यह उनसे बढ़कर और कोई नहीं जानता था।

शर्मीला टैगोर

मानिक चाचा के कट् बोलने के कुछ कायदे थे। एक तो साधारण स्वर में कट् मतलब ठीक है। खूब अच्छे टेक में कुछ चिल्लाकर बोलते, कट् और जब उनकी कल्पना के साथ टेक मिल जाता तो खूब धीरे से, अपने आपमें कहने लगते, कट।

ममता शंकर

वे मुझे आदमी के रूप में समझते ही नहीं थे। कब उनके घर गया, कब वापस चला आया, वह देखते ही नहीं थे। मैं भी किसी अदृश्य मानव की तरह इधर-उधर घूमता-फिरता। एक बार ऐसा हुआ कि वे कमरे में बैठकर चित्र बना रहे थे। मैंने वहाँ पहुँचकर पूरी एक रोल तस्वीरें उतार लीं। जब सभी फोटो खींच चुका तो बोला, मानिक दादा जा रहा हूँ। उन्होंने सिर उठाकर देखा और बोले, अरे कब आये हो?

निमाई घोष

की, उन्होंने तर्क प्रस्तुत किए, उनमें से कुछ युवकों का मत दूसरों से भिन्न था और भिन्न मत रखने वाले युवकों ने अपने स्वयं के प्रतिवाद तर्क रचे, मानो कि वे किसी अनकही चुनौती का जवाब दे रहे हों। मैंने भी **सर्वजय** को मेरे सामने अपने आँसू पोंछते हुए देखा। जब मैं उसकी ओर देख रहा था तो मेरा हृदय उस महान फिल्म-निर्माता और उसकी महान कृति के प्रति श्रद्धा में ओतप्रोत हो उठा। निश्चय ही मेरी पत्नी के साथ भी ऐसा ही हुआ होगा।

ईमानदारी की बात तो यह है कि मैं *अपराजितो के प्रभाव से कभी भी नहीं बच पाता। हर बार जब मैं यह फिल्म देखता हूँ तब-तब उसमें मुझे एक अद्भुत यात्रा दिखाई देती है, जो कि क्लेशपूर्ण किशोरावस्था से होती हुई आह्लादकारी युवावस्था में प्रवेश करती है और हमेशा व्यापक अद्भुत ज्ञात विश्व में झाँकती है। यहाँ* **अपराजितो** में मैं एक माता और व्यस्क व्यस्क होते हुए उसके इकलौते बेटे के बीच के सम्बन्ध के विश्लेशन और प्रदर्शन के प्रति **सत्यजीत राय** का अरुढ़िवादी दृष्टिकोण देखता हूँ। यद्यपि खुलाव अपनी गति में आह्लादकारी या पीड़ादायक रूप में प्रच्छन्न है, तथापि मैं यह देख सकता हूँ कि फोकस एक आभासी रूप में अपरिवर्तनीय सम्बन्ध के धीमे किन्तु अपरिहार्य विघटन पर है, जिसके भीतर तनाव और खिंचाव निरंतर चलते रहते हैं और हम अन्ततः बेटे को महानगरीय परिवेश से बँधा हुआ पाते हैं।

जैसा कि मैं देखता हूँ, सम्पूर्ण प्रक्रिया में उसके चढ़ाव और उतार हैं, उसकी जटिलताएँ हैं, उसकी अननुनेयताएँ हैं जो कि निर्मम हैंऔर हमारे जीवन और हमारे समय से अभिन्न हैं। सम्पूर्ण क्षेत्र-विस्तार का समन्वेषण किया गया है जो कि चरित्रों

और कहानी को उनकी अंतिम नियतियों की ओर ले जाता है- जो नियतियाँ पूर्वनिश्चित नहीं हैं-जो नियतियाँ निर्मित होती हैं, नष्ट होती हैं और पुनर्निर्मित होती हैं।

हमारे बेटे के जल्दबाजी में लिखे गए पत्र को पढ़ते हुए मैं स्वयं से पूछता हूँ कि क्या यह वही अनुभव नहीं है जिसे वह जी रहा था और जिसे उसके शिकागो वाले मित्र जी रहे थे। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे उसी अनुभव के दौर से गुजरे थे और उन्होंने, न्यूनाधिक रूप में, उनकी स्वयं की जानकारी और समझ के अनुसार अलग-अलग ढंग से प्रतिक्रिया की थी।

जब अन्ततः मुख्य पात्र अपू गाँव वापस आता है तो वह वीरानगी के बोध से व्याकुल हो जाता है, किंतु उसे चुपचाप सह लेता है। कोई भी व्यक्ति उसकी माता की मृत्यु के बारे में कुछ भी नहीं कहता, किन्तु वह चुपचाप रोता है और फिर दालान में बैठे हुए बूढ़े आदमी के साथ कुछ बातचीत करता है। वह अपनी माता की कुछ वस्तुओं को समेटता है, जो कि स्मृति चिह्न जैसी थीं और फिर उसी ओझल होते हुए विश्व को छोड़कर एक नये विश्व की ओर, एक चुनौती भरे समय की ओर चल पड़ता है, जो कि उतना चुनौती भरा है, जितना पहले कभी नहीं था। अन्त जो कि सतही तौर पर नीरव होते हुए भी पूरी तरह से दारुण है, हम सभी युवकों और बूढ़ों को भीतर से हिला देता है, हमारे बाल पकड़कर हमें झंझोड़ देता है और हमारा सामना हमारे समय से करवाता है, जो कि मेरा और दूसरों का समय है, जो कि संत्रास भरा है, पीडादायक है और फिर भी उतना अमैत्रीपूर्ण नहीं है।

मेरे दो ऊँचे कद के दोस्तों में एक सत्यजीत थे। वे हमेशा गुमसुम रहते थे मगर अनेक प्रकार के लोगों के साथ उनकी दोस्ती थी। जितना संभव होता वे लोगों से मिलते थे, मगर वे फिर भी कुछ अंतरमुखी थे। इतनी ऊँचाई पर पहुँचने के बाद भी सत्यजीत अपने बचपन के दोस्तों से बहुत प्यार से मिलते थे।

सुभाष मुखोपाध्याय

मैं संगीत को लेकर शोध कर रहा हूँ। ऐसी कोई दुष्कर पुस्तक के बारे में जो कि इस संदर्भ में विशिष्ट हो, मैं मानिक दादा से पूछता तो वे न केवल उस किताब बल्कि उसके लेखक के सम्बन्ध में भी बता दिया करते थे। वे एडवर्ट हेसलिक और लिउनार्ड मियर के बारे में भी सब कुछ जानते थे। सच तो यह है कि संगीतज्ञ के रूप में मानिक दादा का मूल्यांकन ही नहीं हुआ है।

अनूप घोषाल

मानिक दादा आशावादी व्यक्ति थे। नैराश्य उनको छू नहीं सकता था। हम लोगों को दुःख या निराशा हो तो हम उनके पास चले जाया करते थे। उनकी फिल्मों, चित्र, संगीत, साहित्य हर चीज का सुर आशावादी है। उन्हीं की तरह एक व्यक्ति कमल मुजुमदार भी थे। मानिक दादा किसी भी प्रश्न का उत्तर किताब खोलकर नहीं देते थे, सब कुछ उनके दिमाग में रहता था। अब हम लोगों को हर कदम पर किताब खोलनी पड़ेगी।

रविघोष

भारतीय फिल्म वार्षिकी

हिन्दुस्तानी सिनेमा पर अद्यतन सामग्री

पहली बार हिन्दी में

भाषाई फिल्मों के सर्वेक्षण, विशेष साक्षात्कार,
फिल्मोग्राफी और घटनाएँ, फिल्म समारोह,
राष्ट्रीय एवं फिल्मफेअर पुरस्कार, फिल्म-
इतिहास, शिखर पुरुष, फिल्मकार समीक्षकों
का परिचय आदि इत्यादि।

सन्दर्भ के लिए महत्वपूर्ण।

मूल्य : 40 रुपये (पेपरबैक), 100 रुपये (सजिल्द)

मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम का प्रतिष्ठा प्रकाशन